

‘बन्धस्वामित्व’

विषय—मार्गणाओं में गुण स्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व का वर्णन इस कर्मग्रन्थ में किया है; अर्थात् किस-किस मार्गणा में कितने-कितने गुणस्थानों का संभव है और प्रत्येक मार्गणावत्ता जीवों की सामान्य-रूप से तथा गुणस्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध संबंधिनी कितनी योग्यता है इसका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है ।

मार्गणा, गुणस्थान और उनका पारस्परिक अन्तर

(क) मार्गणा—संसार में जीव—राशि अनन्त है । सब जीवों के बाह्य और आन्तरिक जीवन की बनावट में जुड़ाई है । क्या डील-डौल, क्या इन्द्रिय-रचना, क्या रूप-रङ्ग, क्या चाल-ढाल, क्या विचार-शक्ति, क्या मनोबल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र्य इन सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं । यह भेद-विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भाव पर अवलम्बित है । भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इससे सारा जगत् आप ही अजायबघर बना हुआ है । इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है । चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग किये हैं, जो ६२ हैं । जीवों की बाह्य-आन्तरिक-जीवन-संबन्धिनी अनन्त भिन्नताओं के बुद्धिगम्य उक्त वर्गीकरण को शास्त्र में ‘मार्गणा’ कहते हैं ।

(ख) गुणस्थान—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है । सम्पूर्ण चारित्र्य-शक्ति का विकास—निर्माहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है । निकृष्टतम अवस्था से निकलकर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिए जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करता है । इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थाएँ तय करनी पड़ती हैं । जैसे थरमापीटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाते हैं वैसे ही उक्त अनेक अवस्थाएँ जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को जनाती हैं । दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक विकास की परिमाणक रेखाएँ कहना चाहिए । विकास-मार्ग की

इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है।^१ पातञ्जल योग-दर्शन में ऐसी आध्यात्मिक भूमिकाओं का मधुमती, मधु-प्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से उल्लेख किया है।^२ योगवासिष्ठ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्त-भूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया है।

(ग) मार्गशा और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर—मार्गशाओं की कल्पना कर्म पटल के तरतमभाव पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताएँ जीव को घेरे हुए हैं वही मार्गशाओं की कल्पना का आधार है। इसके विपरीत गुणस्थानों की कल्पना कर्मपटल के, खास कर मोहनीय कर्म के, तरतमभाव और योग की प्रवृत्ति-पर अवलम्बित है।

मार्गशाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु वे उस के स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण हैं। इससे उलटा गुणस्थान, जीव के विकास के सूचक हैं, वे विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संहित वर्गीकरण हैं।

मार्गशाएँ सब सह-भाविनी हैं पर गुणस्थान क्रम-भावी। इसी कारण प्रत्येक जीव में एक साथ चौदहों मार्गशाएँ किसी न किसी प्रकार से पाई जाती हैं—सभी संसार जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गशा में वर्तमान पाये जाते हैं। इससे उलटा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उन का कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गशाओं में वर्तमान होता है।

पूर्व-पूर्व गुणस्थान को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परन्तु पूर्व-पूर्व मार्गशा को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गशा न तो प्राप्त ही की जा सकती है और न इनसे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध

१ पाद १ सू. ३६; पाद ३ सू. ४८-४९ का भाष्य; पाद १ सूत्र १ की टीका।

२ उत्पत्ति प्रकरण—सर्ग ११७-११८-१२६, निर्वाण १२०-१२६।

होता है। विकास की तेरहवीं भूमिका तक पहुँचे हुए—कैवल्य-प्राप्त-जीव में भी कथाय के सिवाय सब मार्गगाएँ पाई जाती हैं पर गुणस्थान केवल तेरहवाँ पाया जाता है। अंतिम-भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन-चार को छोड़ सब मार्गगाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किंतु गुणस्थान उसमें केवल चौदहवाँ होता है।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति—दुःख हेय है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता। दुःख का सर्वथा नाश तभी हो सकता है जब कि उसके असली कारण का नाश किया जाए। दुःख की असली जड़ है कर्म (वासना)। इसलिए उसका विशेष परिज्ञान सब को करना चाहिए; क्योंकि कर्म का परिज्ञान बिना किए न तो कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है और न दुःख से। इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उसके प्रकारों का बुद्धिगम्य वर्णन किया है।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाग्रही-सत्याग्रही, अजितेन्द्रिय-जितेन्द्रिय, अशान्त-शान्त और चपल-स्थिर सब प्रकार के जीव अपने-अपने मानस-क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही संग्रह करते और उनके फल को चखते रहते हैं या न्यूनाधिक परिमाण में? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उदय-उदीरणा-सत्ता-संबन्धी योग्यता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थान वाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध आदि संबन्धी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है इसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म-बन्ध-आदि-संबन्धी योग्यता, जो भिन्न-भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उसका ज्ञान भी उसके द्वारा किया जा सकता है। अतएव प्रत्येक विचार-शील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझ में या अन्य में किस-किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न गति के जीव या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न योग-युक्त जीव की या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न लिंग (वेद) धारी जीव की या समान

गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध-योग्यता बराबर ही होती है या न्यूनाधिक ? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के परन्तु गुणस्थान की दृष्टि से समान प्रकार के जीवों की बन्ध-योग्यता के संबन्ध में कई प्रश्न उठते हैं । इन प्रश्नों का उत्तर तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है । इसमें जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि चौदह अवस्थाओं को लेकर गुणस्थान-क्रम से यथा-संभव बन्ध-योग्यता दिखाई है, जो आध्यात्मिक दृष्टि वालों को बहुत मनन करने योग्य है ।

दूसरे कर्मग्रन्थ के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों को लेकर जीवों की कर्म-बन्ध-संबन्धिनी योग्यता दिखाई है और तीसरे में मार्गणाओं में भी सामान्य-रूप से बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गणा में यथासंभव गुणस्थानों को लेकर वह दिखाई गई है । इसीलिए उक्त दोनों कर्मग्रन्थों के विषय भिन्न होने पर भी उनका आपस में इतना घनिष्ठ संबंध है कि जो दूसरे कर्मग्रन्थ को अच्छी तरह न पढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो सकता । अतः तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिए ।

प्राचीन और नवीन तीसरा कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय में समान हैं । नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन कुछ विस्तार से किया है; यही भेद है । इसी से नवीन में जितना विषय २५ गाथाओं में वर्णित है उतना ही विषय प्राचीन में ५४ गाथाओं में । ग्रंथकार ने अभ्यासियों की सरलता के लिए नवीन कर्मग्रन्थ की रचना में यह ध्यान रखा है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आए । इसीलिए गति आदि मार्गणा में गुणस्थानों की संख्या का निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रन्थ में बन्ध-स्वामित्व के कथन से अलग किया है नवीन कर्मग्रन्थ में वैसा नहीं किया है; किन्तु यथासंभव गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व दिखाया है, जिससे उनकी संख्या को अभ्यासी आप ही जान ले । नवीन कर्मग्रन्थ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इसके अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जानकर प्राचीन बन्ध-स्वामित्व को चिना टीका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं इसी से पठन-पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है ।

गोम्भटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय कर्मकाण्ड में है, पर उसकी वर्णन-शैली कुछ भिन्न है । इसके सिवाय तीसरे कर्मग्रन्थ में जो-जो विषय नहीं हैं और दूसरे कर्मग्रन्थ के संबन्ध की दृष्टि से जिस-जिस विषय का वर्णन करना पड़नेवालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है । तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में केवल बन्ध-स्वामित्व वर्णित है परन्तु कर्मकाण्ड में बन्ध-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गणाओं को लेकर उदय-स्वामित्व, उदीरणा-स्वामित्व

और सत्ता-स्वामित्व भी वर्णित है । [इसके विशेष खुलासे के लिए तीसरे कर्मग्रंथ में परिशिष्ट (क) नं० १ देखो] । इसलिए तीसरे कर्मग्रंथ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिए । तीसरे कर्मग्रंथ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रंथ के पढ़ने के बाद अभ्यासी उसे स्वयं सोच ले । परन्तु आजकल तैयार विचार को सब जानते हैं; स्वतंत्र विचार कर विषय को जानने वाले बहुत कम देखे जाते हैं । इसलिए कर्म-काण्ड की उक्त विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिए ।

ई० १६२२]

[तीसरे कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना